ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 8.4
IJAR 2023; 9(8): 172-175
www.allresearchjournal.com
Received: 09-05-2023
Accepted: 10-06-2023

डॉ. अचल अरविन्द
सहायक आचार्य चित्रकला, माँ भारती पी. जी. कॉलेज, कोटा, राजस्थान, भारत

Corresponding Author:
डॉ. अचल अरविन्द
सहायक आचार्य चित्रकला, माँ भारती पी. जी. कॉलेज, कोटा, राजस्थान, भारत

पारम्परिक लोक कलाओं का तात्विक विवेचन

डॉ. अचल अरविन्द

सारांश
कला का मानव जीवन में बहुत महत्व है, किन्तु दुर्भाग्य से हम उसे नहीं समझते हैं या नजर अन्दाज करते हैं। आज कला को बहुत ही सीमित अर्थों में समझा जा रहा हैं। शायद इसीलिये पारम्परिक कला के समग्र और विस्तृत रूप को समझने में कठिनाई महसूस होती है। परम्परा का अर्थ है निरन्तरता तथा परिवर्तन हमें जो कुछ विरासत में प्राप्त हुआ है उसमें से जो कुछ भी वर्तमान के संदर्भ में प्रासंगिक है, वही ग्रहण किया जाता है। अतः परम्परा का सदैव मूल्यांकन होता रहता है। यह किसी जाति में नवीन जीवनी शक्ति एवं नयी उमंग भरती है। सांस्कृतिक जीवन में केवल परम्परा और निरन्तरता ही नहीं, नवीनता का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस परिचर्चा में पारम्परिक कला पर बहुत अधिक विस्तार से प्रकाश डालने की आवश्यकता हैं अर्थात अनुसंधान करके विश्लेषण करने की आवश्यकता हैं। पारम्परिक कलाओं का सांस्कृतिक मूल्य भी है क्योंकि अब यह हमारी सामाजिक परम्परा का एक आवश्यक अंग है, इसका अपना ही एक महत्व है जो अपेक्षाकृत अधिक मानवीय विषयों से किसी भी तरह कम प्रभावशाली नहीं है। कला की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान हम में बुद्धि, आलोचनात्मक निर्णय शक्ति तथा वैज्ञानिक गठन की योग्यता का विकास करता है। कुशल पारम्परिक कलाकार परिश्रमी, सहनशील व साहसी होते थे, उन कलाकारों का जीवन इतिहास ऐसे दृष्टांतो से भरा हुआ था। जैसे–जैसे सामाजिक जीवन जटिल होता जा रहा है वैसे वैसे मनुष्य पारम्परिक कलाओं की ओर उन्मुख होता जा रहा है और यही अनुसंधान का विषय भी है।
मनुष्य का और अधिक सुसभ्य एवं समृद्ध होने का एक मात्र कारण कला में नवीनतम प्रयासों का अध्ययन करना होता है वैयक्तिक अध्ययन की यह आधारभूत मान्यता है कि मानव व्यवहार की मौलिक प्रवृति व स्वभाव कला के पक्ष में निहित होती है।

कूटशब्द : वर्णनणात्मक – जो किसी प्रकार के विवरण से संबंध रखता हो।
दृष्टांत – निश्चित एवं प्रमाणिक रूप से देखना।
उन्मुख – किसी की ओर देखना।

प्रस्तावना
कला का मानव जीवन में बहुत महत्व है, किन्तु दुर्भाग्य से हम उसे नहीं समझते हैं या नजर अन्दाज करते हैं। आज कला को बहुत ही सीमित अर्थों में समझा जा रहा हैं। शायद इसीलिये पारम्परिक कला के समग्र और विस्तृत रूप को समझने में कठिनाई महसूस होती है। इस परिचर्चा में पारम्परिक कला पर बहुत अधिक विस्तार से प्रकाश डालने की आवश्यकता हैं।
कला में जिन रूपों का प्रयोग किया जाता है वे दर्शकों की समझ में तभी आते हैं जब पहले से प्रचलित रहे हों। इस प्रकार की कला को परम्परागत कला कहा जायेगा। आनन्द कुमारस्वामी का विचार है कि परम्परागत कला प्रतीकों तथा चिन्हों के द्वारा ही कला सम्प्रेषण होता है। परम्परा जब रूढ़ि बन जाती है तो पतित कला का जन्म होता है क्योंकि परम्परा के आधार पर बनायी गयी अपूर्ण कृतियों को भी प्राचीन बिम्बों के अनुसार देखा जाता है और कलाकृति की कमी को दर्शक नहीं देख पाता किन्तु कला में केवल प्रतीक ही नहीं होते और जिन प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है उनका केवल परम्परागत अर्थ ही नहीं होता। समय के अनुसार 'यथार्थ' के प्रति दृष्टिकोण बदल जाने से उसमें नये अर्थों का समावेश भी हो जाता है। यूरोप की कला में पूर्वी परम्पराओं ने अनेक नये अर्थों का समावेश किया जो ईसाई चित्रकला के उदाहरणों में देखे जा सकते हैं।

शोध प्रक्रिया
परम्परा सदैव जागरूक होती है। वह वर्तमान के साथ प्राचीन का समन्वय करके ऐसे रूपों का सृजन करती है जो प्राचीन पर आधारित किन्तु वर्तमान की आवश्यकता के अनुरूप होते हैं। यह रीति से पूर्णतः भिन्न होती है। रीति में किसी प्राचीन नियम की रूढिबद्ध अनुकृति की जाती है। रीतिबद्ध कलाकार की सभी रचनाएँ एक ही पद्धति पर ढली होती हैं।

उसमें कोई विकास नहीं होता। चीन, जापान, यूरोप तथा भारत की समृद्ध प्राचीन परम्पराएँ हैं जबकि अमरीका की नहीं है। इसीलिए अमरीका सांस्कृतिक दृष्टि से यूरोप पर निर्भर है। यूरोप की कला का विकास यूनान, रोम तथा इटली के कलाकारों द्वारा निरन्तर सैंकड़ों वर्षो के अभ्यास पर आधारित परम्पराओं के द्वारा ही हुआ है। अमरीका ने जहाँ परम्पराओं की अनुकृति की है वहाँ निष्प्राण कृतियों की ही रचना हुई है। इसीलिये कलाकार पहले प्राचीन कलाकृतियां की अनुकृति करके उनके मूल तत्वों को हृदयगम करते हैं और फिर उनकी प्रेरणा से नवीन कृतियों का सृजन करते हैं।

पारम्परिक कलाओं का सांस्कृतिक मूल्य भी है क्योंकि अब यह हमारी सामाजिक परम्परा का एक आवश्यक अंग है, इसका अपना ही एक महत्व है जो अपेक्षाकृत अधिक मानवीय विषयों से किसी भी तरह कम प्रभावशाली नहीं है। कला की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान हम में बुद्धि, आलोचनात्मक निर्णय शक्ति तथा वैज्ञानिक गठन की योग्यता का विकास करता है।

परम्परा का अर्थ बहुत लचीला है। इसमें अन्ध विश्वास अथवा रूढ़ियों का कोई महत्व नहीं होता। परम्परा का सम्बन्ध संस्कृति से अविछिन्न रूप से है। जिस प्रकार शताब्दियों तक निरन्तर विचारों के मन्थन से संस्कृति का विकास होता है। उसी भांति परम्पर भी पीढ़ी–दर–पीढ़ी के अनुभवों का संचित कोष है। इसमें विकास तथा प्रगति का तत्व अनिवार्य है।''

परम्परा में समूह–चेतना प्रतिबिम्बित होती है जिसमें किसी समुदाय के विश्वास श्री छिपे रहते हैं। इन विश्वासों में से अनेक लुप्त हो जाते हैं और अनेक पुनरुज्जीवित किये जाते हैं। अतः कलाकार के लिये जीवित परम्परा का ही महत्व होता है जो वर्तमान संदर्भों से सीधा और तात्कालिक सम्बन्ध जोडती है। आधुनिक संदर्भों में उसकी पुनः व्याख्या की जाती है। ऐसी स्थिति में अतीत और वर्तमान एक–दूसरे में विलीन होकर नये अर्थों की सृष्टि करते और भविष्य का मार्ग बनाते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि कला अतीत की जड़ता पर मँडराती हुई प्रतिमा नहीं है। यह जीवन की यात्रा से सम्बन्धित है जो नवीनताओं, आश्चर्यो तथा अतीत के बीज का भविष्य के वृक्ष के हेतु प्रतिपल नवीन सम्भावनाओं के साथ निरन्तर समायोजन करती रहती है। इस प्रकार कला सृजनशील आत्मा की कभी कम न होने वाली भव्यता है। इसमें आदान–प्रदान की उदारता होती है अतः इसकी पद्धति अद्वितीय और अपील सार्वभौमिक होती है। दृश्य चाहे पुराना हो, पर इसकी दृष्टि नवीन होती है।

जब हम किसी देश की कला का नाम लेते हैं तो हमारा ध्यान सहसा उस देश की कला की प्राचीन परम्पराओं की ओर जाता है। पर देश अथवा जाति की कठोर सीमाएँ कला में बहुत उदार हो जाती हैं। उदाहरण के लिए भारतीय कला में फारसी कला के तत्वों का पर्याप्त मिश्रण हुआ है। चीन तथा जापान की कलाओं पर व्यापक रूप से भारतीय कला का प्रभाव पड़ा है। अपने देश की परम्पराओं से भिन्न अन्य महत्वपूर्ण परम्पराओं का भी उपयोग महान् प्रतिभाशाली कलाकार सदैव करते आये हैं। बाहरी प्रभावों को आत्मसात् करके भी कला में अपनी केवल वे ही प्राचीन परम्पराएँ सुरक्षित रहती हैं जो अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं तथा जिनमें प्रगतिशीलता और चिर–नूतनता के लक्षण होते हैं। कलाकारों को रूढ़ियों से ही नहीं चिपके रहना चाहिये और नवीन प्रयोग करने से नहीं डरना चाहिए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मतानुसार विज्ञान निर्वैयक्तिक होता है। उसका एक ही गुण है और वह है सार्वभौमिकता। उसके द्वारा वह सूक्ष्म सिद्धान्तों में निबद्ध रहता है। किन्तु कला वैयक्तिक है। उसके द्वारा सार्वभौमिक सत्य वैयक्तिक रूपों में प्रकट होते हैं। अतः कलाकार स्वतन्त्र होकर अपनी परम्परा के अतिरिक्त अन्य प्रभावों को आत्मसात् करता चलता है।''

भावों तथा विषयों के अतिरिक्त परम्परा का प्रश्न रचना–प्रक्रिया से भी सम्बन्धित है। कला की रचना–प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से परम्परा का आधार लिया जाता है। कलाकार जिस सामग्री का प्रयोग करता है वह कला में परम्परागत रूप से प्रचलित होती है और समाज के सदस्य उससे परिचित होते हैं। इस प्रकार सामग्री के प्रयोग तथा रचना–प्रक्रिया की दृष्टि से कलाकार परम्परा द्वारा नियन्त्रित रहता है। पर कोई भी कलाकार किसी भी सामग्री तथा रचना–प्रक्रिया को ज्यों की त्यों दूसरों की भांति ग्रहण नहीं करता। वह उसमें भी नवीन प्रयोग करता है। ''रचना–प्रक्रिया अनिवार्य रूप से परम्परा को अप्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करने की योग्यता तथा अनुभव के नये क्षेत्रों का विचित्र संयोग है।''

इस प्रकार परम्परा तथा आधुनिक में कोई विरोध नहीं है। ''कला ऐसी आध्यात्मिक ऊर्जा पर जीवित रहती है जिसके सहारे जीवन के निस्तेज तथा निरुत्साही तत्व को वह न केवल निगल जाये बल्कि उसका कायान्तरण भी कर दे।''

कुशल पारम्परिक कलाकार परिश्रमी, सहनशील व साहसी होते थे, उन कलाकारों का जीवन इतिहास ऐसे दृष्टांतो से भरा हुआ था। जैसे–जैसे सामाजिक जीवन जटिल होता जा रहा है वैसे वैसे मनुष्य पारम्परिक कलाओं की ओर उन्मुख होता जा रहा है और यही अनुसंधान का विषय भी है।

आधुनिक भारतीय कला का यह सुखद एवं स्वस्थ समय है कि कलाकार भारतीय लोक कला, लघु चित्रों एवं जनजातीय कला के प्रति सजग हो चुके हैं। अन्यथा एक ऐसा भी समय था जब हुन अप्रितिम कलानिधियों को असभ्यों की रचना कहकर तिरस्कृत किया जाता था। ''ऐसा लगता है कि आज के नगर और सम्यातिसभ्य मनुष्य के अचेतन में कहीं न कहीं आदिम मनुष्य की छाया व्यक्तित्व हुआ बैठा है।'' इसका समर्थन मानव जाति विज्ञान (एथ्नोलॉजी) से भी प्राप्त होता है। संस्कृति के सन्दर्भ में आदिम कला के महत्व का पता टेलर की प्रिमिटिव कल्चर और फ्रेजर की 'गोल्डन बो' जैसी पुस्तकों से चलता है।

भारतीय आधुनिक कला के मर्म को अच्छी तरह समझने के लिए हमें लोक कला को भी समझना पड़ेगा, क्योंकि आज के बहुत से चित्रकार किसी न किसी रूप में लोक कला से प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लोक कला, बाल कला एवं जनजातीय कला ने आधुनिक कला को सुदृढ़ आधार प्रदान करना आरम्भ कर दिया था। चाहे वह यूरोप की स्थिति हो या भारतीय कला की ।

भारत में ब्रिटिश स्कूल की स्थापना के पीछे कोई स्पष्ट नीति नहीं थी उनका उद्देश्य एक ओर भारतीय कलाकारों को 'क्राफ्टमैन' बनाना था, जिससे भारत की उच्च शिल्प प्रथा को समाप्त किया जा सके तथा दूसरी ओर रॉयल अकादमी का आधिपत्य चलाना भी था। यद्यपि कुछ अंग्रेज अवश्य थे जिन्होंने भारतीय कला के मर्म को समझा तथा भारतीय कलाकारों को अपनी कला से प्रेरणा लेने के लिए प्रेरित भी किया। क्योंकि ब्रिटिश पद्धति में छात्रों को नकल या यथार्थ की अनुकृति करने के लिए प्रेरित किया जाता था। भारतीय कला को नकारने के कारण ही ब्रिटिश पद्धति के विरुद्ध एक वातावरण तैयार हुआ जिसका अगुवा एक अंग्रेज ई.वी. हैवल था। हैवल के साथ अवनीनन्द्र टैगोर तथा आनन्दकुमार स्वामी का भी स्पष्ट मत था कि भारतीय बलाकारों को अपनी परम्परा की ओर देखना चाहिए। दूसरा कारण भारत में स्वतंत्रता के लिए छटपटाहट भी थी और स्वदेशी का बोलवाला भी था। इसीलिए कला में 'स्वदेशी की ओर देखने के लिए एक श्रोत भी मिल गया। कलाकारों ने पश्चिम की ओर न देखकर पूर्व की ओर दृष्टिपात किया। यहाँ तक कि चीन, जापान एवं पारसी कला को अपनाया गया। अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने ऐतिहासिक एवं साहित्यिक विषय के लिए मुगल एवं राजपूत कला से प्रेरणा ली। भारतीय कला की ओर सिंहावलोकन करने का यह प्रथम अवसर रहा कि कलाकार ने आधुनिकता को संजोए हुए भी भारतीय समृद्ध कला परम्परा की ओर पलटकर देखा। स्वामीनाथन ने कहा था 'आधुनिकता की जो धारणा हमने पाश्चात्य से ली वह उचित नहीं प्रतीत होती। उसमें साम्राज्यवाद के काल को यूरोपीय राष्ट्रों ने

अपने को सारी दुनिया के ऊपर थोपा और कई संस्कृतियाँ खत्म कर दीं। आधुनिक एवं सम–सामयिकता पर हमें अपनी परिभाषा बनानी होगी और उस परिभाषा में उन समुदायों की संस्कृतियों का समावेश भी कराना होगा जिसे हम पिछड़ा हुआ या लोक समझते हैं। हम जब तक यह मानकर नहीं चलते कि सम सामयिक संसार में उनकी दृष्टि का उतना ही महत्व है जितना की हमारी दृष्टि का और समसामयिकता की परिधि में दोनों दृ ष्टियों मिलकर जब तक एक नहीं हो पाती, तब तक कला का भारतीय स्वरूप उज्ज्वल नहीं होगा। हमें अपनी सांस्कृतिक जड़ों को सही दिशा में पहचानना है।''

चित्र एवं मूर्ति में ही नहीं बल्कि लोक कला, लोक संगीत, लोक नृत्य एवं लोक साहित्य ने क्रमशः संगीत, नृत्य, एवं साहित्य के विकास में स्थापित मान्यताओं या शास्त्रीयता के साथ घुलमिल कर जनमानस को प्रभावित किया तथा उसे अधिक स्वाद युक्त बना दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् बहुत से कलाकार भारतीय ग्रामीण कला निधियों के प्रति संवेदनशील एवं जागरूक हुए। क्योंकि पाश्चात्य देशों की तुलना में भारतीय कला में जीवन एवं सौन्दर्य के प्रति घुसपैठ अधिक दिखाई देती है। तभी तो कला यहाँ पर संस्कार एवं परम्पराओं के साथ तारतम्य बनाकर अपना विकास कर पाई। बंगाल के विशनुपुर, मिदनापुर तथा कालीघाट में पट चित्र, पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान में साँझी, अहोई तथा दीवाली के समय में बनाए जाने वाले मिट्टी की दीवारों पर 'मोटिफ' बनाने की परम्परा बिहार में मधुबनी के लोकचित्र, महाराष्ट्र में वालीं चित्र, हैदराबाद में कलमकारी, राजस्थान में पिच्छवई, फड़ पश्चिमी बंगाल की कथा 'एम्ब्रोइडरी पंजाब की फुलकारी एवं चम्बा के रूमाल, कला की अमूल्य धरोहर है जिनसे भारतीय कलाकारों ने निःसन्देह प्रेरणा प्राप्त की। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के टेराकोटा, बस्तर के धातुशिल्प तथा पश्चिमी बंगाल, आसाम, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश एवं हिमाचल प्रदेश के लकड़ी की खुदाई, मिट्टी के खिलौने, फर्श पर अलंकरण एवं धातुशित्य की समृद्ध परम्पराओं ने भी कलाकारों के लिए अनुसंधान के नए द्वार खोले।

इस प्रकार सौन्दर्य–दृष्टि में वस्तुबोध तथा कल्पना दोनों आवश्यकता होती है। इसके पश्चात् अभिव्यक्ति की बारी आती है। व्यक्ति के शारीरिक विकास के अतिरिक्त उसके मानसिक विकास का अनुमान उसकी अभिव्यंजना पद्धति से ही लगाया जाता है। अतः शिक्षा के द्वारा शब्द रचना, ध्वनि रचना, शारीरिक क्रियाओं, चित्र तथा मूर्ति की रचना आदि की पद्धतियों का संस्कार किया जाता है। इसके पश्चात् ही कोई व्यक्ति अच्छा वक्ता, अच्छा संगीतज्ञ, कवि, मूर्तिकार अथवा चित्रकार बन सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रक्रिया में विचार, तर्क, स्मृति, संवेदन, प्रज्ञा आदि सबका समावेश रहता है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य अच्छे वक्ता, चित्रकार–मूर्तिकार आदि का निर्माण करना है

वस्तुओं में पूर्णता की आकर्षक शक्ति ही सौन्दर्य है। यह प्रत्येक वस्तु में हो सकती है अतः अपने–अपने सन्दर्भ में प्रत्येक वस्तु सुन्दर है। कला की श्रेष्ठता का मापदण्ड केवल यही है कि कलाकार जो कुछ बनाना चाहता था उसमें उसे कितनी सफलता मिली है। इस सिद्धान्त का सबसे महत्वूपर्ण पक्ष यह है कि सौन्दर्य वस्तुगत होता है, वह कलाकृति में होता है, दर्शक में नहीं जो उसे अनुभव करने में समर्थ भी हो सकता है और असमर्थ भी। आज हम मानववादी तथा व्यक्तिवादी विचारधारा के कारण यह सोचते हैं कि कला व्यक्तिगत अनुभूतियों और भावनाओं को कलाकार की पसन्द के माध्यम में मुक्तरूप से निर्मित की जाती है जिसका ब्रह्माण्ड अथवा गणित आदि शास्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है; पर पहले लोग ऐसा नहीं सोचते थे। कृति की श्रेष्ठता हमारी रूचियों पर आधारित नहीं होती। वह कलाकार के लक्ष्य के आधार पर ही निश्चित की जानी चाहिये। कला के पीछे लोकप्रियता अथवा तात्कालिक उपयोग का नहीं वरन मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व का प्रभाव रहता है जिसमें भौतिकता, भावना तथा अभ्या तीनों का समावेश है। यदि उपयोगी कलाएं जीवन रूपी फल के खुरदरे छिलके के समान है तो निरूपयोगी ललित कलाए मुल् के समान है अतः हमारे लिये उनका कोई महत्व नहीं है।

यह सत्य है कि कलाकार अन्तर्मन के दिदाँ से प्रेरित होता है किन्तु यह सत्य नहीं है कि किसी लक्ष्य को लेकर निर्माण करने वाला कलाकार स्वतन्त्र नहीं होता। बन्धन तो केवल अकादमिक पद्धति में ही होता है। कलाकार की आत्मा में उत्पन्न होने वाला बिम्ब भी उसका नितान्त व्यक्तिगत नहीं होता क्योंकि कलाकार का व्यक्तित्व सर्व–समाहारी होता है। जो व्यक्ति कल्पनाशील नहीं है वह सर्जक कलाकार नहीं है, केवल कुशल कारीगर है। कलाकार में दोनों प्रकार के गुणों का समन्वय आवश्यक है।

कल्पनाशीलता और ध्यान का तात्पर्य व्यावहारिक से आदर्श तथा निरीक्षण से अन्तर्दृष्टि पर पहुंचना है। कलाकृति के मूल में जो आइडिया होता है वह बनाया नहीं जाता, सहसा प्रकट होता है, यह अलग–अलग कलाकारों में अलग–अलग रूप धारण कर लेता है। अभिव्यक्ति उसी की हो सकती है जिसे हम जानते हैं जानने की विधियां भी पृथक पृथक होती हैं अतः जिस विधि से कोई कलाकार वस्तुओं को जानता है उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति होती है। कला में इसी प्रकार शैली होती है जिससे कलाकार की पहचान होती है। पर शैली कला का सार तत्व नहीं हैं। आधुनिक युग में रिनेसां काल से ही कलाकार के व्यक्तिवाद का स्वर बहुत मुखर हो उठा है, पर इससे हम मध्यकालीन पश्चिमी अथवा पूर्वी देशों की कला को नहीं समझ सकते। पूर्वी देशों के कलाकार ने स्वयं को सदैव अज्ञात रखा है।

अतः कला में पहला प्रश्न यह होना चाहिये कि यह किस उद्देश्य से बनी है. न कि यह कि इसे किसने बनाया है। कला में कोई न कोई आध्यात्मिक अर्थ छिपा होता है, उसी के साथ उसका उपयोग भी संबद्ध होता है। एक योद्धा का तलवार केवल भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक विजय की भी प्रतीक है। कला में रूप पहले से नहीं होते, उनका विधान किया जाता है। यही प्रतिमा विधान है। पाश्चात्य मानवा विचारधारा इसके ठीक विपरीत है जिसमें आदर्शों के बजाय व्यक्तियों को महत्व दिया गया है। परम्परागत दृष्टि से कला का सौन्दर्य अभिव्यक्ति की पूर्णता में है।

निष्कर्ष

अर्थात अनुसंधान करके पारम्परिक कलाओं का विश्लेषण करने की आवश्यकता हैं और पारम्परिक कलाओं की हमारे जीवन में चुनौतियाँ अनेक है। जिसे हम शोध के द्वारा सहज और सरल भाषा में प्रेषित करने में कामयाब हो सकते है। ऐसी अनेक सम्भावनाएँ व्याप्त है।

सन्दर्भ

1. स्वामीनाथन, ज., 1994, लोक कला परम्परा एवं आधुनिकता, नव भारत टाइम्स, नई दिल्ली पृ. सं. 12
2. परिमल, प्रकाश, 1997, ''समसामयीक कला में पारम्परिक कला का महत्व, ललित कला अकादमी नई दिल्ली, पृ. सं. 68
3. मागो, प्राणनाथ, 1991, कला का बदलता हुआ परिपेक्ष, राष्ट्रीय आधुनिक कला दीर्घा, नई दिल्ली, पृ. सं. 89
4. विरंजन, राम, 1996, मिर्जापुर की चित्रकला : एक अध्ययन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, इलाहबाद, पृ. सं. 22
5. शर्मा, डॉ हरद्वारी लाल, 1981, कला मीमांसा के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, पृ. सं. 52
6. अग्रवाल, जी. के., 1999, कला सौन्दर्य समीक्षा शास्त्र, संजय पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ. सं. 124–125

7. अग्रवाल, डॉ गिर्राज किशोर, 2003, कला निबन्ध, संजय पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ. सं. 44
8. पाण्डेय, कांतिचन्द्र, 1997, स्वतंत्र कला शास्त्र, साहित्य पब्लिकेशन, मेरठ, पृ. सं. 69
9. दास, श्याम सुन्दर, 1996, कला साहित्य आलोचना, विजय पब्लिकेशन, कानपुर, पृ. सं. 34